हम सुख-शांति से
वंचित क्यों हैं ?
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

हम सुख-शांति से वंचित क्यों हैं ?

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. : ०९९२७०८६२८९, ०९९२७०८६२८७

फैक्स : २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ६.०० रुपये

प्रकाशक
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि
मथुरा (उ. प्र.)

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

हम सुख-शांति से वंचित क्यों हैं ?

सुख और दुःख क्या है ?

सुख और दुःख का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इनका कोई सुनिश्चित ठोस, सर्वमान्य आधार भी नहीं है। सुख-दुःख मनुष्य की अनुभूति के ही परिणाम हैं। इसकी मान्यता कल्पना एवं अनुभूति विशेष के ही रूप में सुख-दुःख मनुष्य के मानस पुत्र हैं, ऐसा कह दिया जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। मनुष्य की अपनी विशेष अनुभूतियाँ, मानसिक स्थिति में ही सुख-दुःख का जन्म होता है। बाह्य परिस्थितियों से इनका कोई संबंध नहीं। क्योंकि जिन परिस्थितियों में एक दुखी रहता है तो दूसरा उनमें खुशियाँ मनाता है, सुख अनुभव करता है। वस्तुतः सुख-दुःख मनुष्य की अपनी अनुभूति के निर्णय हैं और इन दोनों में से किसी एक के भी प्रवाह में बह जाने पर मनुष्य की स्थिति असंतुलित एवं विचित्र सी हो जाती है। उसके सोचने-समझने तथा मूल्यांकन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। किसी भी परिस्थिति में सुख का अनुभव करके अत्यंत प्रसन्न होना, हर्षातिरेक हो जाना तथा दुःख के क्षणों में रोना बुद्धि के मोहित हो जाने के लक्षण हैं। इस तरह की अवस्था में सही-सही सोचने और ठीक काम करने की क्षमता नहीं रहती। मनुष्य उलटा-सीधा सोचता है। उलटा-सीधा काम करता है।

कई लोग व्यक्ति विशेष को अपना अत्यंत निकटस्थ मान लेते हैं। फिर अधिकार भावनायुक्त व्यवहार करते हैं। विविध प्रयोजनों का आदान-प्रदान होने लगता है। एकदूसरे से कुछ न कुछ चलती रहती है

तो लोग सुख का अनुभव करते हैं। लेकिन जब दूसरों से अपनी अपेक्षाएँ पूरी न हों या जैसा चाहते हैं, वैसा प्रतिदान उनसे नहीं मिले तो मनुष्य दुखी होने लगता है।

अकसर अनुकूलताओं में सुखी और प्रतिकूलताओं में दुखी होना हमारा स्वभाव बन गया है। उन्नति के, लाभ के, फलप्राप्ति के क्षणों में हमें बेहद खुशी होती है तो कुछ न मिलने पर, लाभ न होने पर, दुःख भी कम नहीं होता। लेकिन इसका आधार तो स्वार्थ, प्रतिफल, लगाव, अधिकार आदि की भावना है। इन्हें हटा कर देखा जाए तो सुख-दुःख का कोई अस्तित्व ही शेष न रहेगा। दोनों ही निःशेष हो जाएँगे।

सुख-दुःख का संबंध मनुष्य की भावनात्मक स्थिति से मुख्य है। जैसा मनुष्य का भावना स्तर होगा उसी के रूप में सुख-दुःख की अनुभूति होगी। जिनमें उदार दिव्य सद्भावनाओं का समुद्र उमड़ा रहता है, वे हर समय प्रसन्न, सुखी-आनंदित रहते हैं। स्वयं तथा संसार और इसके पदार्थों को प्रभु का मंगलमय उपवन समझने वाले महात्मा को पद-पद पर सुख के सिवा कुछ और रहता ही नहीं। काँटों में भी वे फूल की तरह मुस्कराते हुए सुखी रहते हैं। कठिनाइयों में भी उनका मुँह कभी नहीं कुम्हलाता।

इसके विपरीत संकीर्णमना, हीन भावना वाले, राग-द्वेष से प्रेरित स्वभाव वाले व्यक्तियों को यह संसार दुःखों का आगार मालूम पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति कभी नहीं कहेंगे कि—'हम सुखी हैं।' वे दुःख में ही जीते हैं और दुःख में ही मरते हैं। दुर्भावनाएँ ही दुःखों की जनक हैं। इसी तरह वे हैं जिनका पूरा ध्यान अपने पर ही है। उनका भी दुखी रहना स्वाभाविक है। केवल अपने को सुखी देखने वाले, अपना हित अपना लाभ चाहने वाले, अपना हित, स्वार्थ वाले, अपना ही एक मात्र ध्यान रखने वाले संकीर्णमना व्यक्तियों को सदैव मनचाहे परिणाम तो मिलते

नहीं। अतः अधिकतर दुःख और रोना-धोना ही इस तरह के लोगों के पल्ले पड़ता है।

आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य का भावना स्तर सार्वभौमिक हो। अपनी सुख-दुःख की अनुभूति का आधार जितना व्यापक होगा उतना ही मनुष्य सुख-दुःख की मोहमयी माया से बचा रहेगा। सबके साथ सुखी रहना सबके साथ दुखी अर्थात सबके सुख में अपना सुख देखना और सबके दुःख में अपना दुःख। इससे मनुष्य न तो सुख में पागल बनेगा न दुःख में रोएगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी कल्याण प्राप्त करें, कोई भी दुखी न हो। इस तरह की भावना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएगी हमारे हृदय में स्थायी सुख-शांति संतोष की भी वृद्धि होगी। इसी तरह सबके दुःखों को अपनी अनुभूति का आधार बनाने वाले व्यक्तियों के दुःख-द्वंद्व स्वतः तिरोहित हो जाते हैं। दुःख का भार जब मनुष्य अपनी ही पीठ पर लादे फिरता है तो दुःखमय रहकर उसका दुःख में ही अंत होना स्वाभाविक है।

अति संवेदनशील व्यक्ति को भी सुख-दुःख की लहरों में अधिक थपेड़े खाने पड़ते हैं। क्षण-क्षण बदलने वाले, बनने और बिगड़ने वाले पदार्थ, संयोग-वियोग जब संवेदनशील व्यक्ति के मानस को झकझोर डालते हैं तो उसे संसार दुःखमय जान पड़ता है। वस्तुतः इस तरह के व्यक्ति एक अपनी काल्पनिक दुनिया बना लेते हैं। लेकिन जब कल्पना साकार नहीं होती और दूसरे अरुचि के परिणाम मिलते हैं तो संवेदनशील व्यक्ति दुखी होता है। संसार यथार्थ की कठोर धरती है। यहाँ सभी तरह की परिस्थितियों के झोंके आते रहते हैं। पद-पद पर प्राप्त

परिस्थिति का स्वागत कर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने वाले ही दुःख-द्वंद्वों पर काबू पा सकते हैं।

मानव जीवन दोहरी कार्य प्रणाली का संयोग स्थल है। मनुष्य लेता है और त्याग भी करता है। निरंतर श्वास लेता है और प्रश्वास छोड़ता है। भोजन करता है किंतु दूसरे रूप में उसका त्याग भी करता है। इस तरह धनात्मक और ऋणात्मक दोनों क्रियाओं में ही मनुष्य जीवन की वास्तविकता है। दोनों में से एक का अभाव मृत्यु है। दोनों के सम्मिलित प्रयास से ही जीवन पुष्ट बनता है। बिजली का ऋण और धन दोनों धाराएँ चलती हैं तभी प्रयोजन सिद्ध होता है। अकेली एक धारा कुछ नहीं कर सकती। इसी तरह संसार में सुखी भी हैं और दुखी भी। न्याय और अन्याय भी। प्रकाश है और अँधेरा भी। संसार सुंदर उपवन है तो कठोर कारागार भी। जन्म के साथ मरण जुड़ा हुआ है। इस तरह विभिन्न धनात्मक और ऋणात्मक पक्ष मिलकर जीवन को पुष्ट करने का काम करते हैं, केवल मात्र सुख की चाह करना और दुःख-द्वंद्वों से बचने की लालसा रखना एकांगी है। प्रकृति का नियम तो बदलता नहीं इससे उलटे मनुष्य में भीरुता, मानसिक दुर्बलता को पोषण मिलता है। मनुष्य को निराशामय चिंता का सामना करना पड़ता है।

जो कुछ भी जीवन में प्राप्त हो, जैसी भी परिस्थिति आए उसे जीवन का वरदान मानकर संतुष्ट और प्रसन्न रहने में कंजूसी न की जाए। वस्तुतः सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, धनात्मक-ऋणात्मक परिस्थितियों में जीवन बलिष्ठ और पुष्ट होता है। इनमें से निकल कर ही मनुष्य निरामय, अनावृत और निर्मल बन सकता है। जैसे इनसे बचने का कोई रास्ता भी नहीं है। फिर क्यों नहीं हर परिस्थिति में सहज भाव में स्थिर रहा जाए? जब संसार को चलाने वाले नियम परिवर्तनशील

हैं, ऋणात्मक और धनात्मक हैं तो फिर अपनी एक-सी दुनिया बसाने की कल्पना या सुखों के अरमानों को पोषण क्यों दिया जाए? इससे तो दुःख, निराशा और क्लांति ही मिलेगी। इस चट्टान की तरह जीवन में आने वाली विविध अनुकूल-प्रतिकूल हवाओं में तटस्थ भाव से सब कुछ देखते रहना और हर परिस्थिति में संतुष्ट रहना सुख-दुःख से मुक्त रहने का सरल उपाय है।

वस्तुतः सुख के संबंध में ही लोगों के विचार सही और पूर्ण नहीं होते। कई बार जिन्हें मनुष्य सुख मानकर चलता वे ही घोर दुःख का कारण बन जाते हैं। बहुत से लोग शारीरिक सुखों को अपना आधार मान लेते हैं। आराम करना, प्रमादी जीवन बिताने में कई लोग सुख का अनुभव करते हैं किंतु ये विषवत दुःखकर होता है।

सांसारिक पदार्थ, इंद्रियाँ तथा इच्छाओं से संबंध रखने वाले सभी सुखों का अंतः दुःख में ही होता है। क्योंकि ये सभी नाशवान, क्षणभंगुर और परिवर्तनशील होते हैं। संसार और मनुष्य की परिस्थितियाँ हर क्षण बदलती हैं। आज कोई धनवान है तो कल वह निर्धन बन सकता है। आज अनुकूल परिस्थिति है तो कल प्रतिकूलताओं का भी सामना करना पड़ सकता है। आज जो पदार्थ हमें सुख देते हैं वे कल दुःखदायी बन जाते हैं। आज जो अपने हैं वे कल पराये बन जाते हैं।

हाँ, यदि सुख का कोई स्थायी आधार हो सकता है तो वह सत्य, सनातन, सार्वभौम मानवीय चेतना। अपनी चेतना-अंतरात्मा में मन, बुद्धि, चित्त को केंद्रित करके तटस्थ निस्पृह-अनासक्त भाव से संसार को देखते रहना, आत्म स्थित हो जग में अपने कार्य व्यापार करते रहना, आत्मा में ही मस्त रहना, आत्मा में ही सुखी रहना, आत्मा को देखना, आत्मा को ही सुनना, आत्मा में ही रमण करना, मनुष्य को सुख-दुःख की सीमाओं से मुक्त कर देता है।

शांति और संतोष क्यों नहीं मिलते ?

जीवन में असंतोष और अशांति क्यों पैदा होते हैं ? इसका कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। मानव जीवन में दृश्य-अदृश्य ऐसे बहुत से कारण हैं जो अशांति और असंतोष पैदा कर देते हैं, फिर भी मनुष्य की द्विविधामय स्थिति, यथार्थ से आँखें मूँदकर कल्पना-लोक में विचरण करना, जीवन जीने का अस्वाभाविक मार्ग अपनाना, तृष्णा, अपने आप के प्रति अनजान रहना, असंतुलित मन, निरुद्देश्य जीवन ऐसे मुख्य कारण हैं, जिनसे मनुष्य जीवन अशांत और असंतुष्ट रहता है।

अशांति, असंतोष मनुष्य के जीवन में तब पैदा हो जाती हैं, जब उसके आंतरिक और बाह्य मन में एक समता नहीं होती है। अंतर मन कुछ और चाहे और बाह्य मन कुछ और करे। ऐसे लोग असंतुष्ट और अशांत ही रहते हैं, जो दुविधा की स्थिति में पड़े रहते हैं। कई व्यक्ति अंतर्मन से बड़े आदर्शवादी होते हैं। लेकिन बाह्य मन की प्रेरणा से अपने आदर्श के प्रतिकूल कार्य कर बैठते हैं। कई बार मनुष्य की नैतिक बुद्धि प्रबल होती है लेकिन असंस्कृत मन पूर्व अभ्यास-संस्कार के कारण अनैतिक कार्य की प्रेरणा देकर मनुष्य को प्रवृत्त कर देता है और यही द्वंद्वात्मक स्थिति मनुष्य की अशांति, असंतोष का कारण बन जाती है। इससे कई शारीरिक-मानसिक बीमारियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। मन की शांति और संतोष के लिए इस तरह की द्विविधा को मिटाकर अपने अंतर-बाह्य मन में सामंजस्य पैदा करना आवश्यक है। जैसा भीतर हो, वैसा बाहर। इस तरह की एकरूपता जितनी होगी, उतनी ही मनुष्य में प्रसन्नता, शांति, संतोष की वृद्धि होगी।

असंतोष का एक मुख्य कारण है, अपनी यथार्थ स्थिति को भूल जाना, वास्तविकता से आँखें मूँदकर किसी के कहे, सुने या कल्पित

स्वरूप में अपने आप को समझने, देखने की भूल कर बैठना। बहुत से लोगों को इसी कारण जीवन भर अशांति और असंतोष का सामना करना पड़ता है। अपनी सहज-स्वाभाविक स्थिति को भुलाकर लोग जब जीवन का अस्वाभाविक मार्ग अपनाते हैं, अपनी सीमा से कुछ अधिक की आकांक्षाएँ रखते हैं तो उन्हें असंतुष्ट रहना पड़ता है। क्योंकि प्रकृति का एक नियम है कि क्रमिक विकास से ही सब उच्च कक्षाओं में, स्थितियों में पहुँचते हैं। बचपन से कोई अचानक वृद्धावस्था में नहीं पहुँच जाता। उगते हुए पेड़ में ही फल नहीं आ जाते। अभी किशोरावस्था में ही पहुँचे हैं कि दूसरों के कहे-सुने अनुसार लोग बड़े दार्शनिक, धार्मिक बन जाने की धारणा कर बैठते हैं। लेकिन उनकी प्राकृतिक स्थिति इससे भिन्न होती है, वह उछल-कूद सीखना, सृजन करना आदि प्रवृत्ति प्रधान कार्यों में लगाना चाहती है। वे जबरन इन पर रोक लगाते हैं, फलत: उनकी प्रकृति और अस्वाभाविक प्रवृत्तियों में संघर्ष हो जाता है और यही असंतोष का कारण बन बैठता है।

ठीक इसके विपरीत लोग बड़ी उम्र में पहुँच कर भी युवकों, किशोरों जैसे प्रवृत्ति प्रधान कार्यक्रमों में लगे रहते हैं, जबकि प्रकृति उन्हें निवृत्ति की ओर लगाना चाहती है। भौतिक कार्यक्रमों से विरक्त होकर दर्शन, धर्म, संस्कृति, समाज के चिंतन में लीन हो जाना आवश्यक है। जब मनुष्य ऐसा नहीं करता, तब भी उक्त प्रकार का असंतोष पैदा हो जाता है।

कई लोगों की बड़ी उच्च आकांक्षाएँ होती हैं। वे जीवन के महान स्वप्न देखते हैं। कल्पना क्षेत्र में उड़ते हुए क्या-क्या बन जाते हैं। कई महापुरुषों की जीवनी पढ़कर, उनके बारे में सुनकर लोग वैसा ही बन जाना चाहते हैं। महत्त्वाकांक्षाएँ रखना बुरी बात नहीं है। इन्हीं

के सहारे मनुष्य आगे बढ़ता है, उच्च सफलताएँ अर्जित करता है लेकिन महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे भी मनुष्य की अपनी स्थिति, योग्यता, परिस्थितियाँ, क्षमता आदि का भी कम महत्त्व नहीं होता। जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और अपनी परिस्थितियों में तालमेल बिठाकर प्रयत्न-रत रहता है, वह सफल भी हो जाता है। लेकिन अपनी स्थिति को भूलकर मनुष्य जब अपरिमित महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे अंधा हो जाता है, तब उसे असंतोष और अशांति का ही सामना करना पड़ता है।

आप क्या हैं, आपकी परिस्थितियाँ कैसी हैं, आप कैसे धरातल पर खड़े हैं, आपकी कितनी क्षमताएँ हैं? इन्हें जाने, समझे बिना महत्त्वाकांक्षाओं के पीछे न दौड़ें। बड़े व्यक्तियों के कहने पर विचार करें, उनके उपदेशों को जीवन में उतारें, लेकिन उन जैसा बनने का अंधा प्रयत्न न करें। स्मरण रखिए, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक प्राकृतिक बनावट होती है। उसी की सीमा में बढ़ते रहने पर वह अपने आप में पर्याप्त कर सकता है। लेकिन जब इसके विपरीत मनुष्य अपने प्रकृत स्वत्व को भुलाकर दूसरे की नकल करता है, तब उसे अंतर्द्वंद्व का सामना करना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सृष्टि होती है। अपनी विशेषता होती है। जो मनुष्य इस वास्तविकता को भुलाने का असफल प्रयत्न करता है, वह उतना ही अशांत और असंतुष्ट रहता है।

संतोष के साधन के लिए आपके पास वर्तमान में जो कुछ है, उस पर संतोष करें, उसका लाभ उठाएँ। इसका अर्थ यह नहीं कि भावी प्रगति के लिए प्रयत्न ही न किया जाए। संतोष का अर्थ हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना नहीं है। वर्तमान से संतुष्ट रहकर भावी उन्नति के लिए धैर्यपूर्वक प्रयत्नशील रहना शांति के लिए आवश्यक है।

मनुष्य की अशांति और असंतोष का कारण उसका अपना मन भी है। असंतुलित, बिना साधा हुआ मन मनुष्य को ऐसी परिस्थितियों में घसीटता रहता है अथवा ऐसी उधेड़-बुन में लगा रहता है, जिससे अशांति और असंतोष की आग सुलगती रहती है। जिस तरह बिना सधा हुआ घोड़ा सवार को दुःखद परिस्थितियों में डाल देता है, उसी तरह असंस्कृत, असंतुलित मन मनुष्य को कई दोष चक्रों में फँसाते रहते हैं, जहाँ असफलता, अशांति, असंतोष ही परिणाम में मिलते हैं।

भले ही मनुष्य इनका दोष भाग्य पर या किसी व्यक्ति पर मढ़ता रहे, लेकिन मूलतः दोष उसके बिना सधे हुए मन का ही होता है। जिसका मन सधा हुआ नहीं है, वह व्यक्ति सदैव अपनी परिस्थितियों, से दूसरे व्यक्तियों के अधीन, परावलंबी, परमुखापेक्षी रहता है। इससे क्षुब्ध और असंतुष्ट भी रहता है। स्वावलंबी, सधे हुए मन वाला व्यक्ति ही संतुष्ट और शांत रह सकता है। जिनका मन आवेशों, उद्वेगों से चलायमान रहता है, वह व्यक्ति कभी भी शांति नहीं पा सकता। विकृत मन की मुख्य तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं—क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़। इनसे उत्कृष्ट स्थिति है—एकाग्र तथा निरुद्ध मन की। महर्षि पतंजलि ने उक्त तीनों स्थितियों को विकृत बताया है। एकाग्र और निरुद्ध मन ही शांति तथा संतोष का अधिकारी होता है।

मनुष्य की अशांति का एक और कारण होता है, उसका निरुद्देश्य जीवन। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में पदार्पण के साथ ही अपनी जीवन यात्रा का एक विशेष लक्ष्य लेकर आता है। लेकिन जब वह संसार में आकर यहाँ के नानात्म में, आकर्षणों में, वस्तु-पदार्थों में उलझ जाता है, उनमें लिप्त हो जाता है, तब अंतर में बैठी हुई चेतना उसे कचोटती रहती है और वह तब तक छटपटाती रहती है, जब तक

मनुष्य एक निर्दिष्ट लक्ष्य निर्धारित नहीं कर लेता जो अंतरात्मा से स्वीकृत हो।

किसी भी रूप में निरुद्देश्य, लक्ष्यविहीन जीवन जिसमें मनुष्य परिस्थितियों, वातावरण एवं दूसरों के द्वारा ठेला जाता है, ऐसी परिस्थिति में शांति और संतोष की प्राप्ति नहीं होती। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपना लक्ष्य निर्धारित करे और उसके अनुसार आगे बढ़े। निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने पर मनुष्य को एक तरह का संतोष मिलता है।

इस संबंध में एक और महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि स्वार्थपूर्ण जीवन में मनुष्य को स्थायी शांति नहीं मिलती, न ऐसे जीवन में संतोष ही मिलता है। परमार्थ प्रधान कार्यों से ही मनुष्य शांति अनुभव करता है। इस परमार्थ में दूसरों के हित में मनुष्य के प्रयास जितने बढ़ते जाएँगे, वह उतना ही संतुष्ट और शांत होता जाएगा।

आनंद और उसका उद्गम स्थान

सुख की आकांक्षा हममें से हर एक को स्वभावतः ही होती है और सभी चाहते हैं कि निरंतर सुख-साधन उपलब्ध होते रहें। पर देखा जाता है कि इस आकांक्षा की पूर्ति कोई विरले ही कर पाते हैं। क्योंकि हम यह ढूँढ़ नहीं पाते कि आनंद का उद्गम स्थान कहाँ है? जब तक यह पता न हो कि वस्तु कहाँ मिलेगी तब तक अनुमान से जहाँ-तहाँ खोजने फिरने से क्या लाभ? आनंद की तलाश हम वस्तुओं और साधनों में करते हैं, पर वे बेचारे जड़ पदार्थ जब स्वयं ही चेतनाहीन हैं तो हमें सुख कहाँ से प्रदान करें? आनंद का उद्गम स्थान चेतन, आत्म एवं ब्रह्म है। यदि उसी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सके तो सुख प्राप्ति की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

स्त्री-पुत्र, धन-संपत्ति, ठाठ-बाट, विषय-भोग, अहंकार-अधिकार आदि जिन कार्यों में लोग आमतौर से प्रसन्न रहते हैं उनके बारे में गंभीरता से विचार किया जाए तो दूसरा ही गुल खिलता है। कोई स्त्री बहुत रूपवती है, उसके प्रति बड़ा मोह और आकर्षण रहता है, पर जब उस शरीर में रहने वाली जीवात्मा अपने से कटु वचन बोले, दुर्व्यवहार करे, शत्रुता रखे तो वह आकर्षण कहाँ रहेगा? मर जाने पर बहुत सुंदर और प्रिय लगने वाले शरीर भी नष्ट करने और दूर हटाने पड़ते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रूप-यौवन का आकर्षण धोखा है। संतोष तो उसके भीतर रहने वाली सूक्ष्म सत्ता के उन्मुख या विमुख होने पर निर्भर है। अपने कुरूप स्वजन, स्त्री-बच्चे भी सच्चा प्रेम होने पर कितने प्रिय लगते हैं? पर पड़ोसी के सुंदर घर वालों के प्रति भी अपना कोई आकर्षण नहीं होता। इससे प्रतीत होता है कि रूपवान शरीरों के सान्निध्य में सुख प्राप्ति की मान्यता मिथ्या है। प्रेम, आत्मीयता तथा सद्भावना के आधार पर ही वह आकर्षण आनंददायक एवं सफल हो सकता है। आत्मीयता की, गृहिणी और रमणी की दृष्टि से जब किसी रूपवती को देखा जाता है तो ही उसमें आकर्षण पैदा होता है अन्यथा शत्रुता रखने वाली रूपवती से कहाँ किसी को आकर्षण होता है? रूप में झलकने वाला आकर्षण इस बात पर निर्भर है कि उसे रमणी की मोहमयी दृष्टि से देखा गया या नहीं।

इसी प्रकार धन-संपत्ति का आकर्षण भी ममता के ऊपर ही निर्भर है। जब तक वह अपने अधिकार में है तभी तक आनंददायक रहती है। जो जेवर, चाँदी, सोना, मकान, मोटर, जमीन, जायदाद आदि आज अपने हैं और प्राणप्रिय लगते हैं वे यदि बेच देने पर, या छिन जाने पर, या किसी अन्य कारण से पराये हो जाते हैं तो उनमें फिर कुछ

भी आकर्षण नहीं रहता। पीछे वे टूटते-फूटते, नष्ट होते रहें तो इससे किसी को कोई दुःख नहीं होता। कल तो जिस चीज को जरा-सी आँच आने पर अपना जी तिल-मिला उठता था, आज वही विरानी होने पर उपेक्षापूर्ण बनी हुई है। इसका कारण 'अपनेपन' की भावना का समाप्त होना ही है। इससे सिद्ध होता है कि जो अपना है वही प्रिय है। वस्तुओं में नहीं भाव में आकर्षण है।

मिर्च-खटाई एक को प्रिय, दूसरे को अप्रिय लगती है। स्वाद मिर्च-खटाई में नहीं, अपनी पसंदगी में मानना पड़ेगा। नदी, वन, पर्वतों के प्राकृतिक दृश्य मनोहर नहीं होते, अपनी सौंदर्य-पारखी दृष्टि के अनुसार ही वे सुंदर लगते हैं। जिस वन के सौंदर्य पर यात्री लोग मुग्ध होते हैं, उनके चित्र उतारते हैं, प्रशंसा करते-करते नहीं थकते, उन्हीं वनों को यहाँ के निवासी असुविधाजनक मानते हैं और सोचते हैं कि यहाँ से कहीं अन्यत्र सुविधा की जगह चलकर रहा जाए। उन्हें शहरों में आकर्षण और वनों में कुरूपता लगती है। जंगल काटने वालों को वही सुंदर उपवन एक व्यापार क्षेत्र मात्र प्रतीत होता है। नाव खेने वालों को, मछली पकड़ने वालों को नदी-तालाब एक खेत या कारखाने मात्र दीखते हैं। उनके सौंदर्य का उन्हें आभास भी नहीं होता।

देवता विश्वास और भावना के आधार पर फल देते हैं। जिनमें श्रद्धा नहीं उनके लिए देव मंदिरों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाएँ पत्थर का एक छोटा सा खिलौना मात्र हैं। तीर्थों, देव मंदिरों, ऐतिहासिक स्थानों में भावना उल्लसित करने वाला वातावरण केवल उन्हीं को मिलता है जिनके मन में उस प्रकार की भावनाएँ विद्यमान हैं। अन्यथा साधारण दृष्टि से वे स्थान भी अन्य मामूली जगहों की तरह ही हैं। वहाँ के निवासी तो उन स्थानों को बिलकुल साधारण सी वस्तु समझते हैं। गंगा

भी एक मामूली नदी मात्र है। भावना के बिना इसका पवित्रता प्रदान करने वाला गुण कहाँ टिक पाता है?

इस दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जड़ पदार्थों में वस्तुतः कुछ भी आकर्षण, कुछ भी लाभ, कुछ भी आनंददायक तत्त्व नहीं है। जो कुछ आकर्षण और आनंद यहाँ दिखाई पड़ता है उसका आधार केवल चेतन है। कहीं तो हमारा अपना चेतन किन्हीं वस्तुओं को अपना मानकर उन्हें प्यार करने पर, उन्हें प्रिय समझने लगता है और कहीं दूसरों का चेतन अपनी उत्कृष्ट प्रवृत्तियों का परिचय देकर हमें उल्लास और आह्लाद से ओत-प्रोत कर देता है। जड़ पदार्थ तो केवल सुविधा के स्थूल उपकरण मात्र हैं। हम उनके पीछे पागल न बनें वरन चेतन का महत्त्व समझें, उसका सही मूल्यांकन करें, उसी की समीपता और उपलब्धि का प्रयत्न करें।

चेतना का अजस्र भंडार अपने भीतर भरा हुआ है। उसका जितना सम्मिश्रण जिस वस्तु में कर देंगे, वह उतनी ही सुंदर दीखने लगेगी, प्रिय लगने लगेगी। ऐसी दशा में हम संसार के बाहरी पदार्थों के पीछे क्यों भागें? प्रिय की प्राप्ति के लिए इधर-उधर क्यों मारे मारे फिरें? जब अपनी भावना पर ही वस्तुओं का प्रिय लगना निर्भर है तो जो उपयोगी, आवश्यक और उपलब्ध वस्तुएँ हों उन्हीं से अपनापन क्यों न करने लगें? उन्हें ही आत्मीयता की दृष्टि से देखकर प्रिय पात्र क्यों न बना लें! संतोष का यही मार्ग है। प्रिय किसे मानना, किसे न मानना यही असंतोष का कारण है। जो प्राप्त नहीं है, जो दूर है, जो स्वप्नलोक में लटका हुआ है, उसके प्रति ममता का आरोपण करके मनुष्य असंतुष्ट और खिन्न रहता है। किंतु जब वह उपलब्ध वस्तुओं को अच्छी, उचित, पर्याप्त और सुविधाजनक मान लेता है तो अभावग्रस्त दीखने वाला व्यक्ति भी बहुत सुखी और संतुष्ट बन जाता है।

प्रत्येक पदार्थ में चेतन-ब्राह्म की सूक्ष्म सत्ता मौजूद है। उसी को हम जब ममतामय दृष्टिकोण के साथ देखते हैं तो सौंदर्य का आभास होने लगता है। वस्तुतः यह स्थूल जगत जड़ मात्र है। जड़ में न तो जीवन है और न आनंद। उसको महत्त्व क्यों दें और क्यों उसके संचय, सान्निध्य के पीछे पागल बनें? जब भावना ही एक मात्र आनंद का उद्गम है तो उसका परिष्कार करके संसार के समस्त जड़-चेतन को आत्मीयता की भावना के साथ क्यों न देखा करें, जिससे यह सब कुछ आनंदमय ही आनंदमय प्रतीत होने लगे।

सुख की आकांक्षा को बुरा मत कहिए

इस संसार के सभी लोगों को सुख की आकांक्षा होती है। धन, स्वास्थ्य, पद, प्रशंसा की कामना सभी करते हैं और उन्हें सुख का आधार मानकर लोग अपनी-अपनी तरह से इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते हैं। तरीके भिन्न हो सकते हैं, किंतु सुख प्राप्ति की आकांक्षा सभी को एक जैसी ही होती है। धन, सुख का प्रधान साधन माना जाता है। इसे कमाने और प्राप्त करने के लिए लोग कड़ी मेहनत, उद्योग-धंधे, खेती, दुकान, नौकरी आदि करते हैं। कई लोग इसके लिए अनैतिक कर्म भी करते हैं। इन साधनों में कितनी ही भिन्नता हो, किंतु धन कमाने का मूल उद्देश्य जीवन के सुख प्राप्त करना ही है।

यह आकांक्षा बुरी नहीं, आत्म विकास में इससे सुविधा प्राप्त कर सकते हैं। किंतु यह तभी संभव है, जब सुख-प्राप्ति की भावना का व्यतिक्रमण न हो। संसार में जो कुछ भी परमात्मा ने बनाया है, उसका उचित रीति से उपभोग करें, तो यहाँ की कोई भी वस्तु मानवीय विकास और आत्मिक प्रगति में बाधा उत्पन्न न करेगी। कामेच्छा आध्यात्मिक

विकास के मार्ग में प्रमुख शत्रु मानी गई है। किंतु इसका एक विशिष्ट-महत्त्व भी है। काम की चेष्टा मनुष्य में न रही होती तो सृष्टि संचालन का क्रम कहाँ से चलता? राम, कृष्ण, गौतम, गांधी, तिलक, मालवीय आदि महापुरुष कहाँ से आते? जीवन-संचार का क्रम इस भाँति आगे भी चलने देने की दृष्टि से कामोपभोग बुरी वस्तु नहीं कही जा सकती। बुराई तो तब उत्पन्न होती है, जब केवल वासना पूर्ति और क्षणिक सुख की आकांक्षा से अपने शरीर का सार-तत्त्व अनुपयुक्त मात्रा में निचोड़ते रहते हैं।

क्रोध को ही लीजिए—यह न हो तो संग्राम में लड़ने वाले जवान दुश्मनों का सफाया कैसे करें? गुंडे, बदमाश, आततायी व्यक्तियों पर क्रोध आए, उन्हें दंड दिया जाए तो यह बुरी बात नहीं। भगवान राम ने रावण पर, कृष्ण ने कौरवों पर क्रोध किया। सत्य और संस्कृति की रक्षा के लिए क्रोध भी धर्म है। लोभ का भावी जीवन की आकस्मिक घटनाओं के समय संचित द्रव्य के उपयोग का महत्त्व है। मोह का तो महत्त्व और भी अधिक है। गृहस्थी की सुघड़ व्यवस्था, बच्चों का पालन-पोषण, श्रम-उद्योग और क्रियाशीलता का आधार सूत्र मोह होता है। इससे यह बात समझ में आती है कि अपनी मर्यादा के अंदर संसार की कोई भी वस्तु बुरी नहीं है। सुख प्राप्ति की आकांक्षा भी इसी प्रकार बुरी नहीं। यह स्वाभाविक एवं उचित भी है कि लोग सुखों की कामना करते हैं। जीवन के विभिन्न व्यापार इसी से तो चलते हैं।

सुख की आकांक्षा न हो तो कौन परिश्रम करना चाहेगा? कड़ी धूप में अपनी चमड़ी कौन सुखाना चाहेगा? आठ घंटे ड्यूटी बजाने में कौन सा आनंद रखा है? सुख की आकांक्षा के पीछे संसार की एक बहुत बड़ी व्यवस्था सन्निहित है, किंतु यह है तभी तक जब तक सुख

की प्राप्ति के साधनों में व्युत्क्रम उत्पन्न न हो। इसे साध्य न मानें, आसक्ति न हो। शक्ति के रूप में ही सुख का महत्त्व है।

'सुख' एक दृष्टिकोण है जो लोगों की रुचि के अनुरूप होता है। वस्तुतः संसार की किसी भी वस्तु में न सुख है और न दुःख। जिसके संतान नहीं होती है, वह इसके लिए बड़ा व्यग्र, दुखी तथा बेचैन रहता है, उसकी दृष्टि में पुत्र-प्राप्ति का सुख ही संसार का बड़ा भारी सुख होगा। पर जिसके कई संतानें पहले ही हैं, घर में धन का अभाव है, उन्हें दुर्भाग्य जान पड़ता है। सुख का प्रधान साधन और आकांक्षा की प्रमुख वस्तु ऐसे लोगों के लिए धन होगी। धन और पुत्र दोनों अवस्थाओं में एक जैसे हैं। किंतु भिन्न दृष्टिकोण के कारण एक व्यक्ति धन को सुख का सार मानता है दूसरे के लिए 'पुत्र' सुख है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संसार के किसी भी पदार्थ में सुख नहीं। रुचि के अनुकूल सुख का भाव अपने दृष्टिकोण में होता है। लोगों के दुःख का कारण पदार्थ के सुख की आसक्ति ही है। अधिकांश लोग इसी कारण दुखी रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को दो श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं—

(१) **विचारों से दुखी**—ऐसे लोग ९० प्रतिशत होते हैं, जिन्हें केवल मानसिक दुःख होता है। भविष्य के प्रति गलत निर्णय कर लेने से लोग अकारण ही दुखी बने रहते हैं। पुत्री की शादी की चिंता, तरक्की न मिलने का दुःख, चोरों का भय, हानि की आशा, मित्रों से विश्वासघात की आशंका, गृह-नक्षत्र द्वारा हानि पहुँचाने के डर पाए जाते हैं। ऐसे दुःखों का कारण वस्तुतः इतना बड़ा नहीं होता जितना कि वे उद्विग्न और संतप्त रहते हैं।

(२) शारीरिक दुःख—इनके दुःखों को दुःख कहा जा सकता है। शरीर रोगी है तो सुख कहाँ मिलेगा ? पाचन क्रिया खराब हो रही हो तो बहुस्वाद युक्त भोजन भी फीका जान पड़ेगा। ऐसे लोगों को एक हद तक वास्तविक दुखी मान सकते हैं।

किंतु यदि भावनाओं में परिष्कार किया जा सके तो अरुचिकर कारणों को भी सुख में बदला जा सकता है। तपस्वी लोग घर के सुखों को त्यागकर जंगल का जीवन अधिक व्यतीत करते हैं। देखने में वनवासी जीवन नितांत अभावपूर्ण लगता है। आहार-विहार और आमोद-प्रमोद की जो सुविधाएँ गृहस्थ जीवन में संभव हैं वह भला वन के जीवन में कहाँ मिलेंगी ? फिर भी एकांतवासियों को आनंदपूर्ण जीवन बिताते देखा जाता है, इसका कारण भावनाओं का परिष्कार ही है। स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति को सुख मानते हैं किंतु परमार्थी व्यक्तियों को परोपकार में सुख मिलता है। परोपकार देखने में घाटे का सौदा है। बाह्य दृष्टि से आप करें तो दूसरों के हित के लिए सदैव ही अपने हितों को होम देना होता है। समय, श्रम और कभी-कभी धन भी लगाना पड़ता है, किंतु परोपकारी को अपनी उच्च भावनाओं में ही अतीव सुख प्राप्त होता है। देखने वाला उसे बेवकूफ मान सकता है किंतु उसके आंतरिक सुख को वह स्वयं ही जान सकता है। भावनाओं का सुख ही सच्चा है।

आध्यात्मिक अनुभूतियों से प्राप्त सुख ही जीवन का सच्चा सुख है। दयावान व्यक्ति दूसरों के दुःख दूर करने में अलौकिक सुख का आनंद लूटते हैं। असहाय व्यक्तियों की सहायता करने वाले शक्तिमान व्यक्ति परमात्मा का ध्यान-सान्निध्य प्राप्त करने वाले योगी की तरह जीवन का सच्चा सुख प्राप्त करते हैं। जो इस जीवन में ऐसा सुख प्राप्त कर सका वह परलोक में भी सुख प्राप्त करेगा, ऐसा मानना चाहिए।

कई लोगों की यह मान्यता है कि जितना यहाँ कष्ट भोग लें उतना ही स्वर्ग में सुख मिलता है। यह भावना नितांत भ्रामक है। परलोक में स्वर्ग और मुक्ति का आधार यह है कि मनुष्य इस जीवन में सच्चा सुख— आध्यात्मिक सुख प्राप्त करे। स्वर्ग की सद्‌गति उन्हें ही मिलती है जो उसे प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ यह समझ लेना नितांत आवश्यक है कि सुख, चित्त का वह भाव है जो मनुष्य के हृदय में उसकी अभिलाषाओं के पूरा होने से या जिस कार्य में वह लगा हो, उसमें असफलता प्राप्त करने या उद्‌देश्य की सफलता से उत्पन्न होता है। गणितज्ञ को सच्चा सुख किसी प्रमेय या साध्य को हल करने में मिलता है। अनुसंधानकर्त्ताओं को सबसे बड़ी प्रसन्नता उस समय मिलती है, जब वह कोई नया आविष्कार करता है। अपने विषय की सफलता को ही जीवन का सुख कह सकते हैं। आत्मा का विषय है—आनंद की प्राप्ति। मानव-जीवन का उद्‌देश्य भी यही है। यह सुख अपने जीवन को समष्टि में घुलाने से होता है। सबके हित में अपना हित समाहित कर देने से जिस दिव्य ज्योति के दर्शन होते हैं आत्मा को उससे बड़ा सुख अन्यत्र नहीं मिलता। इसलिए आध्यात्मिक जीवन सुखों का मूल हित पुकारा गया है। लौकिक कामनाओं की पूर्ति से आंशिक सुख मिलता है किंतु सबके कल्याण की भावना से सर्वांगपूर्ण सुख की अनुभूति होती है।

शास्त्रकार का कथन है—

अपहृत्यार्तिमार्तानां सुखं यदुपजायते।
तस्य स्वर्गोपवर्गो वा कलां नार्हति षोडशीम्॥

परोपकार से दुखियों के दुःख दूर करने से जो सुख मिलता है, वह चिरस्थायी और सच होता है। इस सुख की कोई सीमा नहीं।

दुःख से छुटकारा कैसे मिले ?

देखने में आता है कि सुख-स्वास्थ्य, दूध-पूत, धन-दौलत, यश-मान सभी कुछ होते हुए भी अधिकांश व्यक्ति दुखी रहते हैं। कोई विरले व्यक्ति होंगे, जो परिवार के कीचड़ में फँसकर भी कमल की तरह उससे अलिप्त और अप्रभावित रहते हों। तब क्या नानक जी की यह वाणी सत्य है कि 'नानक दुखिया सब संसार।' किसी ज्ञानी ने सुख की परिभाषा इस शब्दों में की है—"इस सृष्टि में दुःख ही व्यापक है। दुःख के अभाव को ही सुख कहना उचित होगा।"

तब तो यह मानकर चलना अधिक कल्याणकर होगा कि सुख तो दो दिन का साथी है असल में दुःख ही चिरसंगी है। इस चिरसंगी के साथ जो व्यक्ति समझौता करना जानता है, उसे दुःख गहराई तक प्रभावित नहीं कर पाता। मनुष्य जीवन की सार्थकता इन सांसारिक रगड़े-झगड़े में ऊपर उठने में है, नहीं तो ये आप पर हावी हो जाएँगे। आपको पराजित कर आपकी आत्मिक शक्ति को मरोड़कर रख देंगे।

दुःख के मूल कारण माने जाते हैं—अभाव, प्रियजन की मृत्यु, बीमारी, कुरूपता, शारीरिक बल की कमी, प्रेम में असफलता, ईर्ष्या, घृणा और डर की बातें।

उपर्युक्त परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति विभिन्न प्रकार से हो सकती है। किसी व्यक्ति के लिए अभाव का मतलब है जीवन की, दुनिया की जरूरतों को पूरा करने के साधनों की कमी। संतोषी मनुष्य भगवान से केवल इतना ही माँगकर संतुष्ट है कि —

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, अतिथि न भूखा जाय॥

जबकि ठीक इसके विपरीत ऐसे लोग भी हैं कि सब कुछ पाकर भी तृष्णा के शिकार बने रहते हैं। उनकी 'हाय और' 'हाय और' की पुकार कभी बंद ही नहीं होती। दुर्बल हृदय को यदि जरा सा जुकाम भी हुआ, ९९ डिग्री, तो वह दिन में दस बार अपनी नब्ज देखेगा और इसी चिंता में परेशान रहेगा कि शायद अब उस निमोनिया होने जा रहा है, जबकि दूसरों की चिंता में रत परोपकारी व्यक्ति अपना दुःख-दरद भूलकर बीमारी और अभाव में सेवा कार्य करते देखे गए हैं। जीवन में सफलता दृढ़ निश्चयी को आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी, जबकि एक निराशावादी को जीवन में मामूली सी असफलता भी आत्मघात करने की हद तक पागल बना सकती है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों को हम वास्तव में दुःख का कारण नहीं कह सकते। असल में यह प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी समझ, परख और जीवन के प्रति दृष्टिकोण है जो कि अभाव, असफलता और प्रतिकूल परिस्थितियों को दुःख की संज्ञा देता है। अब देखना यह है कि क्या धन-दौलत, स्वास्थ्य, सौंदर्य, संतान, भोग-विलास आदि मनुष्य के जीवन को सुख, शांति और संतोष से भर देने में समर्थ हैं? क्या इनके द्वारा दुःख से छुटकारा मिल सकता है?

कर्मशील व्यक्ति के लिए तो धन हाथ का मैल है। उसको यदि कार्य में सफलता मिलती है तो यही उसका पुरस्कार है। हाँ, मेरा बैंक-बैलेंस दिन पर दिन बढ़ रहा है और मेरा परिश्रम धन के रूप में साकार हो रहा है, यह जान कर चाहे उसे आत्म-संतुष्टि हो, पर क्या वह स्व-अर्जित अपार धनराशि को भोगने में खुद समर्थ है? पुरुष पुरातन की वधू लक्ष्मी चंचल है। अगर धन बढ़ता नहीं और उसे होनकार पुरुषार्थियों

का संरक्षण प्राप्त नहीं होता तो वह जरूर नष्ट हो जाता है। धन मनुष्य को निर्णय, अधिकार से अंधा और दंभी बना देता है। अमीरों और धनियों की अपनी मुसीबतें हैं। हरदम उन्हें अपने धन की रक्षा की चिंता बनी रहती है। आगे इसको सँभालने वाला सुयोग्य वारिस होना चाहिए इसी चिंता में वे घुलते रहते हैं। निन्यानवे के फेर में पड़कर वे धन का सदुपयोग ही भूल जाते हैं। धन का बढ़ता हुआ ढेर ही उनके जीवन की चिंताओं का मूल कारण बन जाता है। धन साधन न होकर जीवन का ध्येय बनकर रह जाता है।

अब लीजिए स्वास्थ्य को; इसमें कोई संदेह नहीं कि 'तंदुरुस्ती हजार न्यामत है' और सुंदर तथा सुडौल काया एक वरदान है, पर यह भी तो चिरस्थायी नहीं है। कई बूढ़े-पंगु भी अपने में मस्त और सुखी पाए गए हैं जबकि बड़े-बड़े पहलवान, नौजवान और रूपगर्विता नारियाँ भी किसी रोग या दुर्घटना का शिकार होकर अपना महत्त्व खो बैठते हैं। सभी स्वस्थ पुरुष सुखी तो नहीं होते और न सभी आकर्षक सुंदरियाँ पति की प्यारी ही होती हैं। जो वस्तु अपने को प्राप्य न हो उस ओर मनुष्य लपकता है। सुंदर युवती का पति भी दूसरी स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होता देखा गया है।

युवावस्था में मित्रता, घनिष्ठता, विश्वास और भावुकता मिलकर प्रेम का रूप ले लेते हैं। मैं किसी का हो जाऊँ, किसी को अपना बना लूँ, यह लालसा प्रेमी को दीवाना बना देती है। प्रेमिका के बिना उसे दुनिया सूनी लगती है। उसको पाकर वह निहाल हो जाता है। पर थोड़े दिनों में जब प्रेम का खुमार उतर जाता है, तब वे प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के दोषों की कटु आलोचना करते नहीं थकते। कभी-कभी यौवन का यह उन्माद प्रेम वासना की सुनहली गली को

पार करके जब यथार्थता की भूमि पर से गुजरता है तो समझदार प्रेमी-प्रेमिकाएँ अपना संतुलन नहीं खोते। एक दूसरे के गुणों की कद्र करते हैं। उनका प्रेम—विश्वास और सहयोग का पुट पाकर गंभीर और स्थायी हो जाता है। यह प्रेम की विजय न होकर उनकी समझदारी की विजय होती है।

प्रेम में ईर्ष्या या अधिकार की भावना ही दुःख का कारण बनती है। सच्चा प्रेम किसी व्यवसाय में लगाई हुई पूँजी नहीं है कि जिसके बदले में प्राप्ति दिनोदिन बढ़ती जाए, न वह फिफ्टी-फिफ्टी का सौदा ही है। यहाँ तो देने में ही सुख है। लेने और देने का जहाँ हिसाब लगाने बैठे कि प्रेम दुःख का कारण बन जाएगा।

लालसाओं का अंत नहीं, एक के बाद एक बढ़ती ही जाती हैं। जिस बात की पूर्ति इनसान अपने जीवन में नहीं कर पाता, उसकी पूर्ति वह अपनी संतान के जीवन में देखना चाहता है। निस्संतान व्यक्ति अपने वंश की बेल को समाप्त होते देख अत्यंत दुखी होता है। उसको इस बात से संतुष्टि नहीं होती कि मनुष्य का नाम उसकी संतान से नहीं, सुकर्मों से अमर होता है। संतान जहाँ नाम चलाती है, वहाँ डुबोती भी है। गृहस्थियों की अनेक चिंताओं के कारण संतान ही होती है। बच्चे का पालन-पोषण, उसकी तरक्की के लिए अनेक साधन जुटाने का काम क्या कम परेशानी का है ? संतान के पीछे मनुष्य कितने प्रलोभनों और दुर्बलताओं का शिकार बनता है ? उद्दंड और अनुशासनहीन लड़के माँ-बाप की जिंदगी को दूभर करके रख देते हैं। इसलिए निस्संतान व्यक्ति को इस पहलू से विचार करते हुए आत्म-संतोष करना चाहिए। अपनी संतान नहीं तो दूसरों के बच्चों को प्यार-दुलार कर वे अपने मन को प्रसन्न कर सकते हैं। किसी

गरीब, पर योग्य बालक को अपना कर अपना जीवन सरस बना सकते हैं।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—कर्म करो, पर फल की आशा मत करो। सुख पाने में नहीं, त्याग में है। सुख के पीछे बावले होकर दौड़ने में नहीं, अपितु कर्मशील होकर दुःख और मुसीबतों से जूझने में है। यदि आप दुःख को जीत लेते हैं, उसे अपने पर हावी नहीं होने देते तो आप सुखी हैं। आसक्ति से दूर रहकर दूसरों के लिए जिएँ। जो मनुष्य अपने परिवार को भूलकर दूसरों के लिए जीता है, उसी को जीने का सच्चा आनंद मिलता है। माँ-बाप इसी प्रेरणा से वशीभूत होकर अपने बच्चों के लिए जीते हैं। उनकी सफलता, सुख और आनंद में उन्हें संतोष मिलता है। इसी भावना को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करने से मनुष्य परिवार के दायरे से निकलकर समाजोपयोगी जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो पाता है। माया-मोह, आर्थिक दृष्टिकोण, स्वार्थ, अर्थप्रधान नीति मनुष्य को जहाँ एक ओर स्वार्थी बनाती है, उसकी वृद्धि को संकुचित करती है, वहाँ दूसरी ओर दुःख की अनुभूति को तीव्र भी कर देती है। मनुष्य परिस्थितियों का दास बन जाता है और जीवन के वास्तविक सौंदर्य से भी अनजान रह जाता है। उसकी दिलचस्पी, प्रेम, त्याग और सहयोग का दायरा संकुचित हो जाता है।

इनसान दुर्बलताओं का पुतला है, वह परिस्थिति का दास बन जाता है। इस तथ्य को स्वीकार करके मनुष्य को दूसरे की उदारता और सहानुभूति के साथ समझने की चेष्टा कर लेनी चाहिए। आप जैसा व्यवहार अपने प्रति चाहते हैं, वैसा ही दूसरे के प्रति करें। अपने मन को टटोलें। यदि आपकी आत्मा आपको चेतावनी देती है, तो उसे

सुनें। अपराधी और अन्यायी चाहे समाज से बच जाए, पर आत्मा की कचोट उसे चैन से नहीं रहने देगी। अपने को धोखा देना ही सबसे बड़ा धोखा है। पछतावे की अग्नि बड़ी दारुण होती है। उसमें तपे बिना आत्मा पवित्र नहीं हो सकती।

दूसरों से कुछ पाने में ही सुख नहीं है, देने में भी सुख है। किसी भूखे को खाना खिला कर या किसी असहाय की मदद करके आपको जो आनंद मिलता है, उसके आशीर्वाद से आपका ही आत्मिक बल बढ़ता है, वह कुछ कम नहीं हैं। "मैं भी दूसरों को सुखी बना सकता हूँ, मेरे सहयोग की किसी को अपेक्षा है" यह भरोसा आत्म-विश्वास पैदा करता है। जो इनसान अपने को भूलकर दूसरों के लिए जीता है, उसको दुःख नहीं व्यापता। अधिकांश माताएँ और पत्नियाँ अपने बच्चों के लिए बड़े से बड़ा दुःख सहने को तैयार रहती हैं। उन्हें अपने खाने-पीने या आराम की परवाह नहीं रहती। इसीलिए माता का दर्जा पिता से अधिक माना गया है।

दुःख को जीतने के लिए हमें अपनी कमजोरियों को ही जीतना होगा। स्वार्थ, माया-मोह, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदि से ऊपर उठकर ही मनुष्य दुःख के शिकंजे से छुटकारा पा सकता है।

सुखी वह जिसका मन वश में

इच्छा होती है कि हम आगे बढ़ें, प्रगति के पथ पर चलें और अन्य उन्नतिशील व्यक्तियों की तरह कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करें। किंतु यह इच्छा अधूरी ही रहती है। कारण एक ही है कि अपने मनोबल को विकसित कर अपनी समस्याओं को आप ही हल कर सकने के तथ्य की उपेक्षा की जाती रहती है कि कोई दूसरा हमारी सहायता करे।

यह स्मरण रखने की बात है कि मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है। अपने सद्गुणों को विकसित करके ही कठिनाई पर विजय प्राप्त कर सकना और प्रगति का द्वार प्रशस्त कर सकना संभव हो सकता है।

हम आगे बढ़ना चाहते हैं, पर अंदर की दुर्बलताएँ अपना विकराल रूप बनाकर रास्ते में अड़ बैठती हैं और कदम-कदम पर रुकावट उत्पन्न करती हैं। लगता है कि कोई बाहरी शक्ति हमारे मार्ग में बाधक है। बहुधा यही भ्रम बना रहता है और बाह्य कारणों पर दोषारोपण करके मन हलका करने की विडंबना चलती रहती है। पर इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अड़चनें ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। विपरीत परिस्थितियों और आक्रामक तत्त्वों का हमला कभी-कभी बाहर से भी होता है, पर यदि अपना आंतरिक स्तर मजबूत हो तो उनका विपरीत प्रभाव देर तक नहीं रहता। उलझी हुई मनोभूमि के व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों को सुधारने और बदलने में कुछ अपवादों को छोड़कर आमतौर से असफल ही होते देखे गए हैं।

हम सोचते हैं कि यदि हम अधिक पढ़-लिख सके होते, विद्या का बाहुल्य होता तो कैसा अच्छा रहता। सम्मान भी बढ़ता, अधिक आजीविका कमा सकते, ज्ञानवृद्धि होती और बौद्धिक स्तर बढ़ता। देखना यह है कि इस मार्ग में बाधा क्या है? क्या पुस्तकें खरीदने लायक आर्थिक स्थिति नहीं? पढ़ने के लिए समय का अभाव रहता है? कोई सहायता करने वाला नहीं? कभी-कभी ये कठिनाइयाँ भी किन्हीं-किन्हीं को कुछ अंशों में होती हैं, जिनका हल आसानी से खोजा जा सकता है। पर आमतौर से अपना मानसिक आलस्य, अनुत्साह, लगन और दृढ़ता की कमी ही प्रधान बाधा होती है। नए काम को

आरंभ करते हुए जी नहीं करता, सदाभ्यासी काम में रुचि नहीं होती। मन हलके, मनोरंजक और चिर अभ्यस्त कामों का आदी रहता है। नए काम में जमता नहीं। एक दो दिन पढ़ने का प्रयत्न किया, पर मन ने उसमें रस नहीं लिया, फलस्वरूप कार्य भाररूप लगने लगा। पुस्तक रख दी, प्रयत्न छोड़ दिया। सोचा—हमसे न पढ़ा जा सकेगा। मन नहीं लगता, फुरसत ही कहाँ है? बाल-बच्चों को पालें या पढ़ें? तबीअत तो ठीक नहीं रहती, पढ़ना कैसे हो? भला कहीं इतनी उम्र में पढ़ाई होती है? भाग्य में विद्या होती तो आरंभ से ही यह व्यवस्था क्यों न बनी होती? आदि अनेकों समाधान सूझ पड़ते हैं। जो ऐसे समाधान प्रस्तुत करते हैं उनके लिए विद्या प्राप्ति की आकांक्षा का पूरा कर सकना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। मानसिक आलस्य की विजय ऐसी ही ऊटपटाँग दलीलों के आधार पर तो हो सकती है। वकील लोग झूठे मुकदमे के पक्ष में अगणित दलीलें गढ़ लेते हैं। हारे हुए मन के लिए अपने पक्ष समर्थन के लिए उपयुक्त प्रकार के अनेक बहाने ढूँढ़ लेना भी सरल है।

यदि सच्ची लगन और दृढ़ निश्चय हो तो मन को बलपूर्वक पढ़ने में प्रवृत्त किया जा सकता है। आलसी मन को कर्मठ बनाने के लिए उसे कड़ी प्रतारणा की जरूरत होती है। दृढ़ता की प्रबलता से आलसी मन को काबू में लाया जा सकता है। नौसिखिए बछड़े या घोड़े को जोतते समय आरंभिक दिनों में जो कठिनाई होती है, वही मन को किसी रूखे विषय में लगाते हुए भी हुआ करती है। दृढ़ता के आधार पर जिसने मन का आलस जीत लिया उसके लिए विद्याप्राप्ति का मार्ग बहुत सरल है। मनुष्य यदि प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करता रहे तो कुछ ही वर्षों में ज्ञान का क्षेत्र पहले की अपेक्षा अनेक गुना बढ़

जाएगा। कितने ही व्यक्तियों ने अधेड़ उम्र में अक्षरज्ञान प्राप्त करना आरंभ किया है और धीरे-धीरे अंततः विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

समय, पैसा या साधनों के अभाव का बहाना बेकार है। जिन कामों को आवश्यक समझा जाता है उनके लिए लोग ढेरों पैसा खरच कर डालते हैं। घर में नहीं होता तो बाहर से कर्ज ले आते हैं। शौकमौज के कार्यों में हर आदमी कुछ न कुछ खरच करता है। उसे बचाकर पुस्तक खरीदने, फीस देने आदि में लगाया जा सकता है। 'जहाँ चाह वहाँ राह।' सच्ची लगन होने पर ईश्वर तक मिल जाता है फिर विद्या प्राप्ति के साधनों का जुटना भला असंभव रह सकता है! जिसे लगन होगी वह हजार कठिनाइयों के रहते हुए भी अध्ययन की सुविधाएँ प्राप्त कर लेगा और एक दिन अपने आज के आलसी साथियों की तुलना में कहीं आगे बढ़े-चढ़ कर विद्वान होगा।

खोए हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करने के लिए आहार संबंधी बुरी आदतों को ठीक करना, ब्रह्मचर्य संबंधी कठोरता बरतना, सवेरे जल्दी उठना, टहलना, व्यायाम, मालिश आदि का क्रम बनाना, चिकित्सा-उपचार करना जैसी बातें आवश्यक हैं। इनकी जरूरत भी अनुभव होती है। पर आलस के मारे आज-कल, आज-कल करते हुए दिन गुजरते रहते हैं, कोई ठीक व्यवस्था ही नहीं हो पाती।

कठिनाई और कुछ नहीं इतनी भर है कि अनभ्यस्त नए कार्यक्रम को अपनाने में मन जो बदमाशी करता है उस पर नियंत्रण किया जाए। जो जरूरी है उसे फौजी अनुशासन के समान अपने आप से कराया जाए। ढील पोल की आदत छोड़कर कड़े नियम, प्रतिबंध पालने के लिए मन को विवश किया जाए तो भला आहार-विहार की उचित

व्यवस्था बनाने जैसे अपने हाथ के, बहुत ही सरल कार्य में क्या अड़चन हो सकती है? थोड़ी सी कड़ाई बरतने मात्र से खोए हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त कर सकने जैसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता देखते-देखते पूरी हो सकती है।

मन की मरजी तो इसमें रहती है कि उसे आलस में पड़ा रहने दिया जाए, मनोरंजक खल-मल या गप-शप का अवसर मिले, विलासिता और वासना की पूर्ति में वक्त कटता रहे, अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा सुनने को मिले। परिश्रम करना, कड़ाई होना, अनुशासन की पाबंदी, समय की मुस्तैदी, नियमितता जैसे बंधन भला उसे क्यों पसंद आने लगे! मन ऐसा भला मानुष कहाँ है कि हर अच्छे काम में अपने आप लग जाया करे। कौन बैलगाड़ी में और कौन सा घोड़ा ताँगे में खुशी-खुशी जुतने को तैयार होता है। बलपूर्वक ही उसे लगाया जाता है। मन की भी ठीक यही स्थिति है उससे किसी को भी यह आशा नहीं करनी चाहिए कि एक उपयोगी, उत्कृष्ट, भले, रूखे, नीरस कामों में चुपचाप अपने आप लग जाएगा। कड़ाई के बिना अब तक किसी का भी मन काबू में नहीं आया तो फिर भला हमारा ही कैसे आ जाएगा?

मनीषियों का कथन है कि वश में किया हुआ मन ही सच्चा मित्र सिद्ध होता है और अनियंत्रित मन शत्रु के समान भयंकर परिणाम प्रस्तुत करता है। जिसने अपना मन जीत लिया उसे तीनों लोकों का विजयी कहा जाता है। अभीष्ट सफलताओं की उपलब्धि इसी बात पर निर्भर रहती है कि निर्धारित कार्यक्रम में मन कितनी लगन, स्फूर्ति और दिलचस्पी के साथ लगा। अधूरे मन से किया हुआ हर काम फूहड़ और असभ्य होता है। शान, शोभा और प्रतिष्ठा के साथ वे ही कार्य पूरे होते हैं जिनमें समुचित मनोबल लगा हो।

प्रगति, विभूति और सफलता की दिशा में बढ़ते जाने से ही आंतरिक संतोष संभव हो सकता है। उत्थान का यह कार्यक्रम मन को सुसंस्कृत और नियंत्रित होने पर निर्भर रहता है। इसलिए उचित यह है कि हम अपने मानसिक स्तर को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न करें। इसी सफलता के साथ जीवन की समस्त सफलताएँ संबंधित हैं। हमें जड़ सींचनी चाहिए ताकि पत्ते हरे-भरे रह सकें और फल-फूलों का लाभ प्राप्त होता रहे।

❒

हमारा सत्संकल्प

- ✧ हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।
- ✧ शरीर को भगवान का मंदिर समझकर आत्मसंयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।
- ✧ मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाए रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे।
- ✧ इंद्रियसंयम, अर्थसंयम, समयसंयम और विचारसंयम का सतत अभ्यास करेंगे।
- ✧ अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।
- ✧ मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करेंगे और समाजनिष्ठ बने रहेंगे।
- ✧ समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छिन्न अंग मानेंगे।
- ✧ चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।
- ✧ अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।
- ✧ मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।
- ✧ दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे, जो हमें अपने लिए पसंद नहीं।
- ✧ नर-नारी के प्रति परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।
- ✧ संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य प्रसार के लिए अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।
- ✧ परंपराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे।
- ✧ सज्जनों को संगठित करने, अनीति से लोहा लेने और नवसृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।
- ✧ राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रांत, संप्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे।
- ✧ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है—इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनाएँगे, तो युग अवश्य बदलेगा।
- ✧ 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा', 'हम सुधरेंगे-युग सुधरेगा' इस तथ्य पर हमारा परिपूर्ण विश्वास है।

❑❑

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)